रसापकर्षक दोषों की काव्यशास्त्रीय समीक्षा

डॉ० सुदर्शन

संस्कृत विभाग

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय

मुजफ्फरपुर।

Abstract:

रस दोष साक्षात् रूप से रस का अपकर्षक करते हैं जबकि पदगत आदि दोष परम्परया रस के विघातक होते हैं। कविगत रस–दोषों का स्पष्ट संकेत आचार्य रूद्रट के विरस दोष से ही प्राप्त होने लगता है। ध्वनिकार ने पाँच रस वरोधी तत्वों तथा उनके परिहार पर गम्भीरतापूर्वक विस्तृत विचार किया है। आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम रस के साक्षात् विघातक तत्त्वों को रस दोष संज्ञा प्रदान की। कविगत रस–दोषों पर विहंगम दृष्टिपात के लिए मम्मट प्रतिपादित रस–दोषों को आधार बनाकर रस–दोषों पर यहाँ विचार अपेक्षित है। इससे एक ओर समस्त रस–दोषों का एकाग्रीकरण हो जाता है। दूसरी ओर पुर्नकथन का दोष भी नहीं रहता। प्रथम रस–दोष 'स्वशब्द वाच्यता' है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ व्यभिचारी, रस तथा स्थायी भाव का सामान्य या विशेष रूप से स्वशब्द से कथन होता है।

Keywords: स्वशब्द वाच्यता, व्यभिचारी, विघातक, एकाग्रीकरण, स्वशब्द

Introduction

दोष–विवेचन भरत मुनि से ही प्रारम्भ हो गया है। भरतमुनि ने दोषों को गुणों का अभाव माना है। इस प्रकार इन्होंने दोषों की स्वतन्त्र स्थिति मानी है। दोष–स्वरूप पर विशद विवेचन नाट्य–शास्त्र में प्राप्त नहीं होता है। दस–दोषों का निरूपण करने के पश्चात् भरत मुनि कहा है कि इनके विपरीत गुण होते हैं।[1] इससे स्पष्ट होता है कि दोष तथा गुण परस्पर विपरीत विपरीत स्थिति वाले है। दोषमुख से गुणों का निरूपण करने से यह भी माना जा सकता है कि भरतमुन के अनुसार गुणों को ग्रहण करने की अपेक्षा दोषों का त्याग करना अधिक आवश्यक है तात्पर्य यह है कि काव्य रचना में कवि यदि गुणों के उपादान के प्रति पर्याप्त सचेष्ट नहीं है तो कवि क्षम्य हो सकता है। परन्तु यदि दोषों के त्याग के प्रति वह पूर्णतः सचेष्ट नहीं है, तो कवि कदापि क्षम्य नहीं है। ध्यातव्य है कि काव्य पूर्णतः दोष–रहित नहीं हो सकता है।[2] अतः काव्यास्वाद को अपकर्षित करने वाले दोष ही त्याज्य है। भरतमुनि ने दोष–सामान्य पर दृष्टि अवश्य डाली है किन्तु उनका यह निरूपण दोष के स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं है।

भामक का दोष :– विवेचन भरतमुनि की अपेक्षा व्यापक है। भामक ने यद्यपि दोष–सामान्य का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है तथापि इनके अनुसार काव्य–दोषों से बकोक्ति का हनन होता है तथा काव्य–शोभा भी अपकर्षित होती है। दोषों के कारण अर्थ का बोध भी भलीभाँति नहीं हो पाता है।[3] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भामक के अनुसार काव्य–शोभा के विघातक तत्त्व दोष है। इनसे सावधान रहने का निर्देश भी भामक ने दिया है। आचार्य भामह ने दोषों को कुपुत्र के समान निन्दनीय बताया है, इन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा है कि एक भी दुष्ट पद काव्य में प्रयुक्त नहीं होना चाहिए क्योंकि एक भी दोषयुक्त पद काव्य को निन्दनीय बना देता है।[4] जिस प्रकार कुपुत्रा से पूरा कुल निन्दित हो जाता है, उसी प्रकार दोष से युक्त काव्य काव्यज्ञों के द्वारा निन्दित होता है। भामह दोषों के सर्वथा त्याग की बात कहते हैं जबकि भरतमुनि ने कहा है कि काव्य सर्वथा दोष मुक्त नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि भामह होता है कि भामक की अपेक्षा भरतमुनि वर्षों की स्थिति के विषय में व्यापक दृष्टि रखते हैं। परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया है कि काव्य में दोषों का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। यह मानना समीचीन भी है क्योंकि, काव्य में कोई न कोई दोष सम्भव हो ही सकता है। त्याज्य दोष वही है, जो काव्यास्वाद के विघातक हो।

दण्डी का दोष :– निरूपण भामह पर आधृत हैं दोष सामान्य का निरूपण दण्डी ने भी नहीं किया है। दोषों से दूर रहने का निर्देश देते हुए दण्डी दोषों का श्वेत कुष्ठ के समान मानते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार सुन्दर स्त्री के शरीर पर स्थित श्वेत कुष्ठ का एक चिह्न उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार एक अल्प दोष भी काव्य के काव्यत्व को अपकर्षित कर देता है।[5] भामह के समान व्यावहारिक दृष्टि से दोष की हेयता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। रूपवती स्त्री के शरीर पर स्थित श्वेत कुष्ठ का एक अल्प अथवा छोटा सा चिह्न उसकी सुन्दरता को अपकर्षित कर देता है। सुन्दर स्त्री के प्रति आकर्षण स्वाभाविक होता है। किन्तु उसके शरीर पर श्वेत कुष्ठ का चिह्न होने पर एक साधारण व्यक्ति भी उसके प्रति आकर्षित नहीं होता। इसी प्रकार काव्य के प्रति सहृदय का आकर्षण स्वभाविक रूप से होता है किन्तु काव्य में यदि एक भी दोष उपस्थित हो जाता है, तो काव्य के प्रति काव्यज्ञ का आकर्षण तत्काल नष्ट हो जाता है। भामह के समान दण्डी को भी काव्य में एक दोष भी क्षम्य नहीं है। दण्डी के पश्चात् वामन ने दोष–विवेचन किया है। इनका दोष–निरूपण पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा वैज्ञानिक, सूक्ष्म तथा युक्तिपूर्ण है।

आचार्य वामन ने गुणों के विपर्यय को दोष माना है। इनका यह दोष–स्वरूप आचार्य भरतमुनि के दोष–स्वरूप के विपरीत है। भरत ने दोषों के विपरीत स्थिति को गुण कहा है तथा वामन ने गुणों के विपरीत स्थिति को दोष कहा है। भरत का दोष–स्वरूप निरूपण दोष–मुख से गुणों का परिचय कराता है और वामन ने गुण–मुख से दोष का नियपण किया है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि भरत ने दोष त्याग को प्रमुखता दी है, जबकि वामन ने गुणोदपादन को महत्ता प्रदान की है। वामन के दोष–स्वरूप निरूपण से काव्य में गुणों की स्थिति को दृढ़ता प्राप्त होती है। किन्तु गुण–विपर्यय को दोष मानना समीचीन प्रतीत

नहीं होता। गुणों का रस–धर्मत्व सिद्ध होने पर सरस काव्य में उनकी स्थिति प्रायः निश्चित ही है। ऐसी स्थिति में यदि गुण सदवै सरस काव्य में उनकी स्थिति प्रायः निश्चित ही है। ऐसी स्थिति में यदि गुण सदैव सरस काव्य में स्थित ही रहेंगे तो दोष का सदैव अभाव ही बना रहेगा। नीरस तथा वस्तु मात्र व्यंग्य काव्य में भी गुण वाचक वर्ण उपलब्ध होते ही है। अतः गुण के विपर्यय रूप वाले दोषें की स्थिति मानना उचित नहीं होगा।

वामन द्वारा गुणों के विपर्यय को दोष मानने से यह भी स्पष्ट होता है कि वामन काव्य में गुणों की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनके अनुसार काव्य में दोषों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यहाँ ध्यातव्य है कि दोषों की स्वतंत्र सत्ता न मानने का तात्पर्य दोषों का अभाव नहीं है वरन् गुणों का ग्रहण अथवा उपादान अपेक्षित है, यह व्यक्त होता है। वामन का दोष–स्वरूप परवर्ती काव्य शास्कारों के लिए महत्वपूर्ण रहा है क्योकि इनका दोष–स्वरूप काव्य में गुणों की महत्वपूर्ण स्थिति का ज्ञान कराता है।

आचार्य आनन्दवर्धन आचार्य वामन के परवर्ती है। वामन ने दोष–सामान्य का लक्षण प्रस्तुत किया है तथा दोषों का वर्गीकरण भी किया है किन्तु आनन्दवर्धन ने दोष–विवेचन पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। आनन्दवर्धन ने दोष–सामान्य का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है। इन्होंने दोषों का व्यवस्थित निरूपण भी नहीं किया है। यत्र–तत्र दोषों का परिचय प्रस्तुत किया है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में कुछ अंश तक दोष–निरूपण प्राप्त होता है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन के लिए ध्वनि का निरूपण ही प्रधान लक्ष्य था। सम्भवतः इसलिए ध्वनिकार ने दोष–निरूपण को विशेष महत्व नहीं दिया।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को रसभंग का कारणण स्वीकार किया है। इनके अनुसार रसभंग का एकमात्र कारण अनौचित्य अर्थात् उचित सन्निवेश नहीं होना।

महिम भट्ट ने दोष–निरूपण के प्रसंग में ध्वनिकार का समर्थन करते हुए अनोचित्य को अभीष्ट रसादि प्रतीति में विघ्न कारक नाना हैं आचार्य महिम भट्ट ने दोष–सामान्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। विवक्षित अथवा अभिलक्षित किंवा अभीष्पित रस, भाव इत्यादि की झटिति अर्थात् अविलम्बित प्रतीति ही सहृदय को अभीष्ट होती है। अभीष्ट रसादी का आस्वादन न होने से दोष उपस्थित हो जाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार रस से सम्बद्ध या रस–विषयक औचित्य ही रस की सम्यक् अर्थात् निर्दुष्ट प्रतीति का कारण है। इसके विपरीत रस से सम्बद्ध अनौचित्य रस के अनास्वादन का कारण है। आनन्दवर्धन तथा महिम भट्ट के दोष–विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि दोष गुण के विपर्यय रूप नहीं है। वामन में गुण के विपर्यय को दोष माना है। इसके अतिरिक्त दोष को रस के अपकर्षक रूप में उपस्थित करके महिम भट्ट ने ध्वनि का विरोध करने के लिए ही अपने ग्रन्थ व्यक्ति–विवेक की रचना की है। किन्तु आचार्य महिम भट्ट का दोष–सामान्य अर्थात् अनौचित्य सामान्य का लक्षण पूर्णतया ध्वनिकार आनन्दवर्धन के दोष–विवेचन से प्रभावित है।

आचार्य भोजराज ने दोष का सामान्य लक्षण हेय कह कर दिया। उनकी दृष्टि में जो काव्य में अभिमत प्रतीति में व्यवधान उपस्थित करने वाले विघ्न रूप तत्व है, वे त्याज्य या हेय तत्व ही दोष कहे जाते हैं। आचार्य वामन ने गुण के विपर्यय को दोष्रा कहा है। आचार्य भोजराज ने 'अरीतिमत्' नामक वाक्य दोष का उल्लेख किया है। जो श्लेष आदि गुणों की विपरीत स्थिति में होता है।

संदर्भ–सूची :–

1. भामह काव्यालंकार, 1/9 तथा काव्यादर्श 1/7

2. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः
   एतएव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।
   – भरतमुनि, ना० शा० 17/95

3. न च किंचिद् गुणहीनं दोषैपरिवर्जितं न वा किंचित्।
   तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतो ग्राहयाः।।
   – तदेव, 17/47

4. भामक काव्या., 1/47, 48, 49

5. भामक, काव्या 1/9

6. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
   स्याद्वपुः सुन्दरमपि शिवत्रैणैकेन दुर्भगम्।।
   – दण्डी, काव्यादर्श– 1/7

7. गुण विपर्ययात्मानो दोषाः।
   – वामन, का० अ० सू०, 2/1/1

8. एतस्य च विवक्षितरसादि प्रतीति विघ्नविधायित्वं नाम सामान्य लक्षणम्।
   – तदेव, द्वितीय विमर्श

9. तदेव, 1/1

10. दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थामंच षोडशः।
    हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्य तानेवादौ प्रचक्ष्महे।।
    – भोजदेव, स० क०, 1/3